महाकवि कालिदास कृत

मेघदूत

अनुवादक

केशवप्रसाद मिश्र

श्री:

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

"पापाणादपि पीयूषं स्पन्दते यस्य लीलया।"
तं मेघदूतनामानं कविमन्त्रमुपास्महे ॥

देशदर्शन-कौतुकी कालिदास काव्यसंसार में रमते रमते रामगिरि पर जा जमे। जलदागम-काल था। स्निग्धश्यामल बलाहकों से व्योममण्डल व्याप्त था। जलकणवाही सुखशीतल केतकगन्धी गन्धवाह झूम झूम कर चल रहा था। प्रिय-समागम से प्रीत प्रेमपरीत मयूर मत्त होकर प्रमोद-नृत्य कर रहे थे। शैल-सरिता का सर्ज-अर्जुन-कदम्ब-कुसुमों से मिश्रित पर्वतीय-धातु-रंजित नव जल त्वरित गति से कल कल करता बह रहा था। घनदर्शनोत्सुक प्रमुदित बकपंक्ति रुचिर अम्बर की पुण्डरीक माला सी पवन में उड़ रही थी। अभिनव जलधारा से आप्यायित मरकतमणि-नील शाद्वल पर टहलती हुई बीरबहूटियाँ धरा-रमणी को लालबूटीदार सुश्यामरी साड़ी पहना रही थीं। रम्य वनान्त कहीं भ्रमरों के रूप में गुनगुना रहे थे; कहीं कलापियों के रूप में अलाप रहे थे; कहीं गजेन्द्रों के रूप में मत्त हो रहे थे तो कहीं नवोद्भिन्न कन्दलीदलों के रूप में रोमाञ्चित। पपीहे पिहक रहे थे। श्रोत्राभिराम घनध्वनि मधुर मृदङ्ग-

परन्तु विरही कालिदास को जान पड़ा कि ये कालकूट-काल कराल बादल इन्द्रधनु लेकर वियोगियों पर बाण-वारि-धारा बरसा रहे हैं। अस्तु। उनकी प्रतिभा भी कौंधी। कल्पना-कादम्बिनी उमड़ पड़ी। विश्वप्रेम-पीयूष की वर्षा होने लगी। डरावने मेघ सगे लगने लगे। सोचा—इनसे बढ़कर सन्तप्तों का शरण कौन होगा? इन्हीं में से किसी को दूत बनाकर यदि प्राण-प्रिया के पास भेजूँ तो अच्छा रहे। बस फिर क्या था। भावना करते ही मेघ दूत बन कर चला प्रिया को विश्वप्रेम का सन्देश सुनाने।

असंगता विश्वप्रेम का प्रधान कारण है। संगम का परिच्छिन्न प्रेम विरह में अपरिच्छिन्न हो जाता है। अलका के भवन में बैठी यक्ष-पत्नी यक्ष को प्रत्येक वस्तु में दिखाई देती है।

"प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः"

तभी तो उसे पेड़-पल्लव, नदी-नद, खोह-पहाड़, पशु-पक्षी, भले-बुरे जड़-चेतन सभी से प्रेम हो गया है। तभी तो बादल गले मिल कर पहाड़ से विदा माँगता है। और पहाड़ बहुत दिनों पर अपने स्नेही को देखकर गरम आँसू बहाता है।

कालिदास के सर्वप्रिय मेघदूत के विषय में यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। इस अनुपम काव्य-रत्न की इतनी परख—इतनी चर्चा—हो चुकी है कि इसके जौहर तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य सामान्य ज्ञातव्य बातें प्रायः काव्यरसिकों को ज्ञात हैं।

हाँ इतना मैं अवश्य कहूँगा कि आनन्द और अवकाश के समय इसका पाठ करने से सचमुच उसी अलौकिक रस का अनुभव होता है जो 'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार वर्णित है—

× × × पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी × × रसः। अब

प्रस्तुत अनुवाद

के विषय में दो बातें सुन लीजिए। छन्द के पींजड़े में बन्द की गई कविता-कोकिला स्वच्छन्द नहीं रहती। न तो वह मौज से पर फैलाकर उड़ सकती है और न स्वभावमधुर कूक ही सुना सकती है। अपनी सारी अठखेलियाँ उसे उसी घेरे के भीतर ही करनी पड़ती हैं। फिर चाहे वह कोकिला किसी कलावन्त खिलाड़ी की हो या किसी अताई तुक्कड़ की।

कविकुलगुरु कालिदास सच्चे कवि थे। जब कभी उनकी प्रतिभा जागरित होती, उनकी सूझ रीमती; वे तुरन्त मधुरोचित पदावली की चाशनी को छन्दों के साँचों में डाल देते और सुन्दर सुन्दर पद्यों की मीठी मीठी मूर्तियाँ निकल आतीं। पर कभी कभी उन्हें भी छन्दों की परिच्छिन्नता—नाप-जोख—के कारण स्वाभाविकता की सुघराई से हाथ धोना पड़ा है। बानगी देखिए—

"तां कस्याञ्चिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः" पू० मे० ३९

यक्ष कहता है—भाई मेघ! देख, तू अपनी प्रिया सौदामनी का खयाल रखना। वह बड़ी ही सुकुमार है। क्षण भर में उसकी प्रभा—उसकी ओप—उतर जाती है। तू ठहरा अतिविलासी। रास्ते भर छेड़ छाड़ से तू बाज़ आने का नहीं। और मुझे आता है उस बेचारी पर तरस। इससे सुन मैं बतलाऊँ। रात को किसी अटारी पर, जहाँ अति विलास से थके कबूतर भी निधड़क सो रहे हों, तू उसे विश्राम देना। छेड़ना मत। हाँ!

परन्तु शब्द-रचना से यह अर्थ स्पष्टतया नहीं निकलता। छन्द की तंगी से कवि ने "खिन्नविद्युत्कलत्रः" (जिसकी विद्युत्-पत्नी खिन्न हो गई हो, वह) पद को 'त्वम्' (तू) का विशेषण बनाया है। जिसका यह अर्थ हुआ कि—'खिन्न विद्युत् पत्नी वाला तू' (रात बिता कर चलना)। इस अर्थ से कवि की इष्टसिद्धि नहीं होती। क्योंकि विशेषण और विधेय में बड़ा अन्तर है। 'पूर्वसिद्ध-कथन' के लिए विशेषण का प्रयोग होता है और 'अपूर्व बोधन' के लिए विधेय का। यहाँ 'विद्युत् पत्नी का खेद' अपूर्व—नई—बात है। उसे विशेषरूप से बोधन करना, उस पर ध्यान दिलाना कवि को इष्ट था; अतः उसका प्रयोग विधेय-विधया होना चाहिए था। परन्तु विशेषण-कोटि में रखने से इस अपूर्व बात की अपूर्वता—विधेयता—नष्ट हो गई है और पूर्वसिद्धता—उद्देश्यता—प्रतीत होती है। "भूखे घोड़े वाला तू कुछ खा पी ले" इस वाक्य से यह स्पष्टतया नहीं सूचित होता कि 'तेरा घोड़ा भूखा है, तुझे उसकी खबर लेनी चाहिए'। 'भूखे घोड़े वाला' केवल 'तू' के परिचय के लिए प्रयुक्त सा मालूम पड़ता है। इस प्रकार विधेय के अनुचित प्रयोग को 'विधेयाविमर्श'

ेष कहते हैं। उक्त पद्यार्थ का अनुवाद इस प्रकार
किया गया है—

ऐसी छत पर, जहाँ कबूतर निधड़क करते हों आराम,
अतिविलास से थकी चञ्चला प्यारी को देना विश्राम।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण उत्तर मेघ से लीजिए—

मत्संभोगः कथमुपनमेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा—
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥ उ० मे० २८

क्ष कहता है—मेरी विरहिणी निरुपाय होकर यह चाहती होगी कि
मुझे नींद आ जाय और प्रत्यक्ष नहीं तो स्वप्न ही में मैं प्रियमिलन
का आनन्द ले लूँ। पर हाय! उसकी आँखों में नींद कहाँ! उनसे
तो आँसुओं की धारा उमड़ती होगी।

परन्तु "नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्" (आँसुओं के उमगने
से जिसे स्थान नहीं मिलता—वह) पद को 'निद्राम्' (नींद) का
विशेषण बनाकर कवि ने बात विगाड़ दी। इससे यह प्रतीति सी
होने लगी कि—वह निर्विघ्न निद्रा नहीं चाहती, वह ऐसी निद्रा
चाहती है जिसे आँसुओं के मारे आँखों में स्थान न मिलता हो।
देखा आपने! छन्द की झंझट ने कितनी हानि की। इसका
अनुवाद यों है—

मिलन स्वप्न में ही हो इससे करती निद्रा का अभिलाप,
किन्तु अश्रुधारा के मारे उसको वहाँ कहाँ अवकाश!

यक्ष कहता है—भाई मेघ ! देख, तू अपनी प्रिया सौदामनी का खयाल रखना। वह बड़ी ही सुकुमार है। क्षण भर में उसकी प्रभा—उसकी ओप—उतर जाती है। तू ठहरा अतिविलासी। रास्ते भर छेड़ छाड़ से तू बाज़ आने का नहीं। और मुझे आता है उस बेचारी पर तरस। इससे सुन मैं बतलाऊँ। रात को किसी अटारी पर, जहाँ अति विलास से थके कबूतर भी निधड़क सो रहे हों, तू उसे विश्राम देना। छेड़ना मत। हाँ !

परन्तु शब्द-रचना से यह अर्थ स्पष्टतया नहीं निकलता। छन्द की तंगी से कवि ने "खिन्नविद्युत्कलत्रः" (जिसकी विद्युत्-पत्नी खिन्न हो गई हो, वह) पद को 'त्वम्' (तू) का विशेषण बनाया है। जिसका यह अर्थ हुआ कि—'खिन्न विद्युत् पत्नी वाला तू' (रात बिता कर चलना)। इस अर्थ से कवि की इष्टसिद्धि नहीं होती। क्योंकि विशेषण और विधेय में बड़ा अन्तर है। 'पूर्वसिद्ध-कथन' के लिए विशेषण का प्रयोग होता है और 'अपूर्व बोधन' के लिए विधेय का। यहाँ 'विद्युत् पत्नी का खेद' अपूर्व—नई—बात है। उसे विशेपरूप से बोधन करना, उस पर ध्यान दिलाना कवि को इष्ट था; अतः उसका प्रयोग विधेय-विधया होना चाहिए था। परन्तु विशेषण-कोटि में रखने से इस अपूर्व बात की अपूर्वता—विधेयता—नष्ट हो गई है और पूर्वसिद्धता—उद्देश्यता—प्रतीत होती है। "भूखे घोड़े वाला तू कुछ खा पी ले" इस वाक्य से यह स्पष्टतया नहीं सूचित होता कि 'तेरा घोड़ा भूखा है, तुझे उसकी खबर लेनी चाहिए'। 'भूखे घोड़े वाला' केवल 'तू' के परिचय के लिए प्रयुक्त सा मालूम पड़ता है। इस प्रकार विधेय के अनुचित प्रयोग को 'विधेयाविमर्श'

दोष कहते हैं। उक्त पद्यार्थ का अनुवाद इस प्रकार किया गया है—

ऐसी छत पर, जहाँ कबूतर निधड़क करते हों आराम,
अतिविलास से थकी चञ्चला प्यारी को देना विश्राम।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण उत्तर मेघ से लीजिए—

मत्संभोगः कथमुपनमेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा—
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥ उ० मे० २८

यक्ष कहता है—मेरी विरहिणी निरुपाय होकर यह चाहती होगी कि मुझे नींद आ जाय और प्रत्यक्ष नहीं तो स्वप्न ही में मैं प्रियमिलन का आनन्द ले लूँ। पर हाय! उसकी आँखों में नींद कहाँ! उनसे तो आँसुओं की धारा उमड़ती होगी।

परन्तु "नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्" (आँसुओं के उमगने से जिसे स्थान नहीं मिलता—वह) पद को 'निद्राम्' (नींद) का विशेषण बनाकर कवि ने बात बिगाड़ दी। इससे यह प्रतीति सी होने लगी कि—यह निर्विघ्न निद्रा नहीं चाहती, वह ऐसी निद्रा चाहती है जिसे आँसुओं के मारे आँखों में स्थान न मिलता हो। देखा आपने! छन्द की झंझट ने कितनी हानि की। इसका अनुवाद यों है—

मिलन स्वप्न में ही हो इससे करती निद्रा का अभिलाष,
किन्तु अश्रुधारा के मारे उसको वहाँ कहाँ अवकाश!

एक और—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ उ० मे० १

इस पद्य में बड़ी सुन्दरता से मेघ और अलका के प्रासादों की तुलना की गई है। पहले संबोध्यमान मेघ के तुल्य गुण बतलाये गये हैं पीछे प्रासादों के। और यही क्रम उचित भी है। क्योंकि मेघ सामने है और प्रासाद हैं आँखों की ओट। किन्तु छन्द की निष्ठुरता से यह क्रम न निभा। द्वितीय चरण में प्रासादों का जिक्र पहले और मेघ का पीछे आ गया। बात बिगड़ गई। 'भग्नप्रक्रमता' अथवा 'क्रमभङ्ग' दोष आ पड़ा। इसका अनुवाद यथास्थान देखिए।

इस प्रकार महाकवि कालिदास को जब काव्य भर में एक छन्द के प्रयोग का नियम करने से कठिनता हुई तब अनुवादक बेचारे की कौन कहे! उसे तो एक नहीं अनेक संकट हैं। महाकवि के भावों की रक्षा करना; अन्यूनानतिरिक्त—नपे तुले—शब्दों में उन्हें प्रकट करना; महाकवि ने अपनी अनोखी प्रतिभा की लहर में जो बात अनायास कह डाली है उसे गढ़ गढ़ कर छन्द की डिब्बी में बन्द करना; न कुछ बढ़ाने की उसकी शक्ति और न कुछ घटाने का उसका अधिकार!

ऐसी अवस्था में सहृदय पाठक समझ सकते हैं कि मेरा अनुवाद कैसा होगा और मुझे अपने अनुवाद की सफलता पर कैसा विश्वास होगा। अन्त्यानुप्रास का बखेड़ा अपने सिर मढ़ कर मैंने और दुःसाहस किया है। पर करता क्या? यदि इस नीरस रचना को यह अलङ्कार भी न पहनाता तो बेचारी निरी नङ्गी रहती।

पाठ-भेद तथा अर्थ-भेद

के सम्बन्ध मे भी मेरा कुछ वक्तव्य है। प्रायः मैंने अनुवाद के लिए निर्णयसागर के प्रचलित संस्करण ही का उपयोग किया है। किन्तु उसके कुछ पाठ मुझे बहुत ही खटकते थे। दैवात् "अनंतशयन-संस्कृतग्रन्थमाला" में प्रकाशित दक्षिणावर्त्तनाथ-कृत-टीका-सहित 'मेघसन्देश' की एक प्रति मेरे हस्तगत हुई। उसके पाठ मल्लिनाथी पाठों से कहीं उत्तम हैं। एक नमूना देखिए—

पूर्वमेघ के चतुर्थ श्लोक का प्रथम चरण मल्लिनाथ के अनुसार यह है—

'प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी'

इसका अर्थ है—यक्ष ने श्रावण आते आते प्रिया की जीवनरक्षा के हेतु (मेघ के द्वारा सन्देश भेजने का विचार किया।) किन्तु इससे जी नहीं भरता। यक्ष ने आषाढ़ के पहले दिन तो बादल देखा और सावन आने पर सन्देश भेजने का विचार किया! बीच में? मालूम नहीं क्या करता था। शायद बैठा बैठा इष्ट-सिद्धि के लिए अनुष्ठान करता रहा हो! नाथ ने "प्रत्यासन्ने

नभसि" के स्थान पर "प्रत्यासन्ने मनसि" पाठ माना है। जिसका अर्थ होता है-'जी में जी आने पर, जी ठिकाने होने पर'। यही अर्थ ठीक जान पड़ता है। इसके पहले मेघदर्शन से यक्ष की चिन्ता का वर्णन है—

उसे देख वह उत्कण्ठित हो जैसे तैसे खड़ा रहा,
जी भर आया, बड़ी देर तक दीन सोच में पड़ा रहा।

पश्चात् जी ठिकाने होने पर उसने सन्देश भेजना चाहा। मल्लिनाथ ने "प्रत्यासन्ने नभसि" पाठ कायम करने के लिए बड़ा तूमार बाँधा है, पर कुछ जँचता नहीं।

अर्थ समझने में मुझे मल्लिनाथी टीका से बहुत सहायता मिली है। अतएव मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। किन्तु मैंने सर्वत्र उनका अनुसरण नहीं किया है। यत्र तत्र उनसे भिन्न भी अर्थ माने हैं। मल्लिनाथ जैसे "शब्दार्थपरीक्षणप्रणयी" हैं वैसे भावुक नहीं। पहले ही श्लोक की टीका में "जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु" (="सीता के मज्जन से शुचि जल" वाले आश्रमों में) इस विशेषण का भावार्थ उन्होंने लिखा है—'पावनेष्वित्यर्थः' (=पवित्र)। मतलब यह कि यक्ष ने जिन जिन आश्रमों में डेरे डाले वे सब बड़े ही पवित्र थे; क्योंकि वहाँ के जलाशयों में सीता जी ने स्नान किया था। सोचने की बात है कि विरही यक्ष कुछ तीर्थ-यात्रा के लिए तो रामगिरि पर गया ही नहीं था जो वह पवित्र स्थलों में डेरा डालता फिरता। वह बेचारा तो गया था अपने दिन काटने।

× × × × × × × × × × × ×
× × × × × × × × × × × × × × ×

किन्तु वाह रे कालिदास ! तुमने वहाँ भी उसे चैन से न रहने दिया। जहाँ जहाँ उसे ले जाकर टिकाया वहाँ वहाँ निर्वासित होने पर भी राम के साथ सीता का स्मरण दिला दिलाकर उसी से उसके भाग्य को कोसवाया ! विरह वेदना पर रुलाया !

पूर्वमेघ का १५ वाँ श्लोक है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्

वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य । इत्यादि

इसमें प्रयुक्त 'वल्मीक' शब्द के अर्थ के विषय में मत-भेद है। साधारणत: 'वल्मीक' का अर्थ है 'बाँबी'। इसी अर्थ को बहुत से टीकाकारों ने माना है। मल्लिनाथ ने तो केवल "वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्" इत्यमरः" इतना ही कह कर छुट्टी ली है। किन्तु नाथ ने अधिक प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—"वल्मीकाग्रात् प्रभवति, तदन्तर्गतसर्पशिरोरत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्षणीयं धनुःखण्डं वल्मीकाग्रात् प्रभवतीत्यर्थः" अर्थात् बाँबी के सर्पों की मणियों के कान्तिमण्डल सा दृश्यमान यह इन्द्रधनुष बाँबी के सिरे से प्रकट होता है। बहुमत के आधार पर मैंने भी वल्मीक का अर्थ बाँबी माना और उसी को अनुवाद मे सन्निविष्ट किया है। किन्तु "शब्दशक्तिप्रकाशिका" मे इस विषय का बहुत ही सुन्दर उल्लेख है। कारक-प्रकरण में अपादान का अर्थ बतलाते हुए जगदीश ने प्रसङ्गात् लिखा है—वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्येत्यत्र धात्वर्थः प्राक्प्रकाशनम्, तत्र पञ्चम्या

अधिकरणत्वं × × × × प्रत्याख्यते। × × × एवञ्च वल्मीकाग्रवृत्तिप्रथमप्रकाशनवदाखण्डलस्य धनुःखण्डमित्याकारकस्तत्र बोधः। "वल्मीकः सातपो मेघः।" आखण्डलः शक्र इति। इसका निष्कर्ष यह है कि—मेघ! तुझ पर आतप पड़ने से तेरे ऊपर से ही इन्द्रधनुष पहले पहल प्रकाशित हो रहा है—इत्यादि। यह अर्थ प्रकृति-विज्ञान-सम्मत भी है। अतः इसके अनुसार उक्त पद्यार्ध का ऐसा अनुवाद होगा—

वह; तुझ पर आतप पड़ने से, देख, सामने मनभाता,
रत्नों के द्युति-मण्डल सा जो इन्द्रधनुष देखा जाता।

अब मैं हिन्दी के अप्पयदीक्षित एकलव्य के द्रोणाचार्यवत् अपने हिन्दी के गुरु पण्डितवर श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी जी का श्रद्धापूर्ण हृदय से स्मरण करता हूँ, जिन्होंने अपनी सत्य-प्रिय सम्मतियों से इस अनुवाद को कृतार्थ किया है। मैं नहीं निश्चय कर पाता कि मैं अपने परमप्रिय मार्मिक सहृदय सुहृद्वर राय कृष्णदास जी को, उनकी प्रिय प्रेरणा, प्रशस्त प्रोत्साहन, हित-परामर्श तथा समुचित सहायता के परिवर्त्त में धन्यवाद दूँ या क्या करूँ? कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी इस अनुवाद पर कृपा की है, अतः उनका भी मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ।

मैं काशीस्थ-भारतकलापरिषद् को अन्त में अत्यन्त धन्यवाद देता हूँ जिसने मेरी इस प्रथम रचना का इतना आदर कर इसे प्रकाशित कराया है।

भदैनी, बनारस
विजयादशमी १६८०

—केशवप्रसाद मिश्र

काव्य और कवि के सम्बन्ध में दो बातें

मेघदूत काव्य-संसार का एक अद्वितीय व्यक्ति है। प्रातिभ और प्रत्यक्ष उभयविध गोचरों की जैसी रमणीय एकात्मता मेघदूत में है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। अविज्ञात का विज्ञान और विज्ञात का अविज्ञान जैसे ब्रह्मविद् का लक्षण है वैसे ही क्रान्तदर्शी कवि का भी। जिस कवि के चित्त की पहुँच मधुमती भूमिका तक है, जिसे पार्थिव रज भी मधुमत् प्रतीत होने लगता है, वही ऐसे मधुर कविकर्म का सृष्टिकर्ता हो सकता है।

मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्यजनकसम्बन्ध और जनक होने के नाते सम्बन्धी पिता इन तीनों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता रहता है उसे पर प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति

की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेदबुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से सह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्त्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्रचित्त व्यक्ति अपने पराये का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिए दुख पाते हैं, क्योंकि "भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति"।

जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक ...क अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मता छोड़कर अलौकिक सुखात्मता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं।

योगी अपनी साधना से इस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती भूमिका का स्पर्श

करता है तब समस्त वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। पातञ्जल-सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास कैसे सुन्दर शब्दों में इसका वर्णन करते हैं—

मधुमतीं भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते—भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते; वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

अर्थात्—मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्ध सात्त्विकता देखकर देवता अपने अपने स्थान में उसे बुलाने लगते हैं—इधर आइए, यहाँ रमिए, इस भोग के लिए लोग तरसा करते हैं, देखिए कैसी सुन्दरी कन्या है, यह रसायन बुढ़ापा और मौत दोनों को दबाता है। यह आकाश-यान, ये कल्पवृक्ष, यह पावन मन्दाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सरायें, ये दिव्य श्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह वज्र-सा शरीर सब आप ही ने तो अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न इस देवप्रिय अक्षय, अजर, अमर-स्थान में।

इसी दिव्य भूमिका में पहुँचकर क्रान्तदर्शी वैदिक कवि ने कहा था—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।
ऋ० १। ९०। ६

योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है प्रातिभज्ञान[१]-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः उस भूमिका तक हुआ करती है। साधक और कवि में अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यही रसास्वाद की अवस्था है, यही रस की 'ब्रह्मास्वादसहोदरता' है।

बड़े ही गूढ़ अभिप्राय से प्रकाशकार ने 'माधुर्य...... द्रुतिकारणं' कह कर मधुमती के पुत्र माधुर्य को चित्तद्रुति का कारण बतलाया है। चित्त की द्रुति अथवा द्रवीभाव है क्या? चित्त स्वभावतः कठिन होता है। उसकी कठिनता इसी में है कि

---

१ Benedetto Croce ने इसी प्रातिभ ज्ञान को Intuitive Knowledge कहा है। इसका वर्णन 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' ३।३३ तथा 'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्' ३।५४ इन पातञ्जल सूत्रों पर व्यास के भाष्य और विज्ञानभिक्षु के वार्तिक में देखना चाहिए।

वह अपने को किसी भाव से आविष्ट नहीं होने देता, किसी भाव को संचार के लिए उसमें अवकाश नहीं मिलता। जब इस प्रकार की कठिनता चली जाय, जब शोक, क्रोध, जुगुप्सा आदि से उत्पन्न दीप्ति (तमतमाहट) मिट जाय, जब विस्मय, हास, भय आदि से उत्पन्न विक्षेप भी न रहे, उस समय आवरण हटाकर रति आदि भावों के आकार में भासमान आन्तरिक आनन्दज्योति के जग उठने पर जो सहृदय पुरुष के हृदय की आर्द्रता होती है, जो अश्रु-प्रवाह या पुलकावली का संचार हो उठता है वही तो चित्त की द्रुति है। यह भी रसानुभूति की ही अवस्था है। माधुर्य से इसका सम्बन्ध बतलाकर मम्मट ने मधुमती की ओर ही संकेत किया है, पर खुले शब्दों में नहीं।

संस्कृत-साहित्य में मुझे ऐसे दो उदाहरण मिले हैं जहाँ अपर प्रत्यक्ष की अवस्था में भी रससंचार का वर्णन है। एक तो साक्षात् क्रौञ्चवध देखने से महर्षि वाल्मीकि के चित्त में लौकिक संकोचक शोक न उत्पन्न होकर उस अलौकिक विकासक शोक का उत्पन्न होना जिसके आवेश में उनका प्रातिभ ज्ञान जाग उठा और उन्होंने—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस छन्दोमयी दैवी वाणी का आकस्मिक उच्चारण कर डाला। इस वाग्ब्रह्म के प्रबोध का वर्णन कालिदास, भवभूति तथा आनन्दवर्धन ने "श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः" आदि कह कर ऐसे ढंग से किया है कि यह शोक महर्षि के पर प्रत्यक्ष

का विषय ही जान पड़ता है। दूसरा सीता-परित्याग के पश्चात् पुनः पञ्चवटी में स्वयं गये हुए रामचन्द्र में, संगमकालीन दृश्यों का अपर प्रत्यक्ष होने पर भी, लौकिक शोक न होकर उस करुण रस का संचार होना जिसका निर्देश भवभूति ने—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥

कहकर स्पष्ट ही कर दिया है।

इन उदाहरणों में भी पर प्रत्यक्ष की अवस्था ही माननी चाहिए। महर्षि वाल्मीकि और भगवान् रामचन्द्र दोनों ही ऐसे व्यक्ति थे जो परम सात्त्विक कहे जा सकते हैं। उनकी चित्तवृत्ति एक प्रकार से सदा ही मधुमती भूमिका में रमी रहती होगी। अतः उनका शोक आत्म-सम्बन्धी या पर-सम्बन्धी परिच्छिन्न शोक नहीं है जिससे कि वह दुःखात्मक हो, अपितु वह व्यक्तिसम्बन्धशून्य अपरिच्छिन्न शोक था जो स्थायी भाव होकर रस के रूप में परिणत हो सका।

कवि के समान हृदयालु वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बन्धुत्व के बन्धन से बँधा है। वही मेघदूत के पर्वतों को मधुमान् और नदियों को 'मधु क्षरन्ति सिन्धवः' के रूप में देख सकता है।

वर्षाकाल भारत का सबसे अधिक रमणीय काल है। इस समय प्रचण्ड मार्तण्ड की प्रखर किरणों से सन्तापित समस्त भूत-सर्ग वारिद से वारिदान पाने की लालसा से उत्कण्ठित हो उठता है। देश-साम्राज्य के साथ साथ जब से साहित्य-साम्राज्य भी पराया

हो चला है तभी से "विपत्ति के बादल उमड़ने लगे हैं" नहीं तो "मुकुल-मेघ सुख-वारि" ही बरसा करते थे। नेत्ररञ्जन नीरद के उदारता दिखलाते ही अखिल जीवलोक आप्यायित और उच्छ्वसित होकर कुछ न कुछ हृदय का संगीत छेड़ बैठता है। ऐसे अनुकूल समय में रसेश्वर कालिदास की सरस्वती कैसे मौन रहती। उसने मेघ को दूत बनाकर इस प्रकार हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया कि हम चेतनाचेतन का भेद भूलकर उसे सचमुच सन्तप्तों का शरण सुहृद् संदेशवाहक समझने लगे। उसका उत्साह, उसकी प्रीति, उसका विहार, उसकी उदारता सब हमें अपने जान पड़ने लगे। विरही यक्ष (पर-प्रत्यक्ष-प्रिय कालिदास ने जिसका नाम तक नहीं लिया है!) का अतृप्त अनुराग हमारा अनुराग और प्रिया के प्रति उसकी प्रबल उत्कण्ठा हमारी उत्कण्ठा हो उठी। कालिदास की यह प्रसन्न मधुर वाणी, मन्दाक्रान्ता की यह झूमती चाल, देश की यह मनोहर रूपमाधुरी सबने मिलकर मेघदूत में कुछ ऐसा जादू भर दिया है कि प्रत्येक सहृदय इसके असर से लोट पोट हो जाता है। इसका पूरा अनुभव तो मुझे उस दिन हुआ जब भारतकलाभवन में "त्वामालिख्य प्रणयकुपितां" वाला चित्र देखकर और पद्य सुनकर मेरे मान्य मित्र तटस्थ तपस्वी श्रीयुत विधुशेखर शास्त्री जी की आँखें भी छलछला आईं।

इस संस्करण में मैंने कुछ ऐसे शाब्दिक परिवर्तन कर दिये हैं जो काव्य की प्रकृति के अनुकूल हैं।

जन्माष्टमी १९९२

—केशवप्रसाद मिश्र

मेघदूत

मेघदूतम्

पूर्वमेघः

(१)

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥

(२)

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥

(३)

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥

मेघदूत

पूर्वमेघ

(१)

धनपति ने सेवा से बेसुध एक यक्ष पर कोप किया,
उसे वर्ष भर प्रिया-विरह का कारण दूभर शाप दिया।
तब निरस्त हो उसने डेरे रम्य रामगिरि पर डाले,
जो सीता-मज्जन से शुचि जल और घनी छायावाले॥

(२)

उसी शैल पर उस विरही का आठ मास रोते बीता,
कृश होने से कञ्चन-कङ्कण गिरकर हाथ हुआ रीता।
अब असाढ़ आते ही उसने चोटी पर बादल देखा,
क्रीड़ा में झुक ढूह ढाहते हाथी सा उसको लेखा॥

(३)

उसे देख वह उत्कण्ठित हो जैसे तैसे खड़ा रहा,
जी भर आया, बड़ी देर तक दीन सोच में पड़ा रहा।
जब सुहावनी घटा देखकर सुखी अनमने हो जाते,
तब आलिङ्गन-रसिक कभी क्या रह कर दूर चैन पाते?॥

(४)

प्रत्यासन्ने मनसि दयिताजीविताालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥

(५)

धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥

(६)

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥

(७)

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
संदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥

(४)

जी में जी आने पर, घन से समाचार निज भिजवाना—
प्रिया-प्राण-रक्षा का उसने एकमात्र साधन माना।
लेकर टटके कुसुम कुटज के प्रथम उसे उपहार दिया,
फिर प्रसन्न हो प्रिय वचनों से स्वागत-शिष्टाचार किया॥

(५)

भाप पवन पानी पावक का मेघ निरा संघात कहाँ!
चतुर सचेत जनों के द्वारा कहलाने की बात कहाँ!
उत्कण्ठा से हुआ यक्ष वह निर्विचार याचन में लीन;
जड़ हो या चेतन हो सबसे आर्त्त कामिजन बनते दीन॥

(६)

बोला—विदित पुष्करावर्त्तक-कुल ने तुझको जन्म दिया,
बना प्रधान पुरुष सुरपति का, जब जो चाहा रूप लिया।
विधिवश स्वजनों से बिछुड़ा मैं हुआ आज याचक तेरा;
नहीं अधम से माँगा मिलना, उत्तम से अच्छा फेरा॥

(७)

सन्तप्तों का शरण! तु ही हे जलद! प्रिया से कह सन्देश,
धनपति के कारण वियोग में भोग रहा हूँ ऐसे क्लेश।
यक्षपुरी अलका को जाना जहाँ महल कर रही उदोत—
बाहर के उपवन में बैठे भव के भालचन्द्र की जोत॥

(८)

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।
कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥

(९)

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥

(१०)

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥

(११)

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
आ कैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥

आँखों पर से बाल उठाकर देख हवा पर तुझे सवार,
पथिक-रमणियाँ धैर्य धरेंगी प्रियजन का आगमन विचार।
भला कौन तेरे घिरने पर सकता है विरहिन को भूल,
यदि न हमारी ऐसी उसको पराधीनता हो दुखमूल ॥

(९)

मन्द मन्द अनुकूल पवन यह तुझको सीधे वहा रहा,
तेरा सगा पपीहा बायें पिहक रहा चहचहा रहा।
तो अवश्य प्रियदर्शन! तेरा नभ में बहुत करेंगी मान,
पाँत बाँधकर उड़ी बगलियाँ गर्भाधान समय को जान ॥

(१०)

दिन गिन गिन कर धीरज धरती पतिव्रता भावज तेरी,
जीती ही दिखलाई देगी जो न लगी तुझको देरी।
कुसुम-समान हृदय रमणी का जब वियोग में कुम्हलाता,
आशा-रूप-वृन्त के कारण गिरते गिरते रुक जाता ॥

(११)

छत्रक उपजा कर धरती को शस्यशालिनी जो करता,
श्रुतिसुख सुन वह तेरा गर्जन जब हंसों का मन भरता।
कमलनाल के मृदुलदलों का संबल तब वे ले ले कर,
मानसगामी नभ में होंगे हरगिरि तक तेरे सहचर ॥

(१२)

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥

(१३)

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥

(१४)

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥

(१५)

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥

(१२)

जिसके ऊपर रघुनायक के वन्दनीय चरणों की छाप,
उस प्रियवन्धु तुङ्ग गिरिवर से मिलकर विदा माँग तू आप।
समय समय पर ही तुझको पा जो चिर-विरह-जन्य तत्काल,
उष्ण वाष्प मोचन कर करके कहता व्यथित हृदय का हाल॥

(१३)

प्रिय पयोद ! प्रस्थान योग्य पथ बतला दूँ पहले तुझको,
(श्रवण-योग्य सन्देश कहूँगा फिर जो कहना है मुझको।)
उस पथ में थकने पर करना गिरिवर-शिखरों पर विश्राम,
और क्षीण होने पर पीना सरिता-सलिल सरस गुणधाम॥

(१४)

'कहीं वायु गिरि-शिखर उड़ाये तो यह नहीं लिये जाता ?'
यों तू चकित मुग्ध सिद्धों की वधुओं से देखा जाता।
पथ में दिङ्नागों की भीषण सूँड़ों का हरते अभिमान—
सरस-निचुलवाले इस थल से उत्तर को करना प्रस्थान॥

(१५)

बाँबी के ऊपर से सम्मुख देख निकलता आता है,
रत्नों के द्युति-मण्डल सा यह इन्द्रधनुष छवि पाता है।
इससे रुचिर साँवली सूरत वह तेरी मन भायेगी,
मोरपङ्खधर गोपवेशकर हरि की याद दिलायेगी॥

(१६)

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥

(१७)

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥

(१८)

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥

(१९)

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्त्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥

(१६)

जलद ! गाँव की बारी भोरी तुझे जान कृषि का आधार,
नेहभरी भोली चितवन से देख करेंगी तेरा प्यार।
नये जुते खेतों से सोंधी माल-भूमि पर घेरा डाल,
चटपट उत्तर को चल देना वहाँ बिताकर थोड़ा काल॥

(१७)

बरस बरस कर तुझने की हैं जिसकी दव-ज्वालायें शान्त,
आम्रकूट वह सिर आँखों पर लेगा तुझे देखकर क्लान्त।
नहीं कृपण भी पीछे हटना पहले के उपकार विचार—
विधिवश मित्ती मित्र-सेवा से, फिर कैसे वह उच्च उदार!॥

(१८)

उस पर छा जायेगा जब तू चिकनी चोटी जैसा श्याम,
तब वह अचल पके आमों से पीला त्यों होगा अभिराम।
ज्यों अचला-कुच मध्य भाग में मेचक शेष भाग में गौर,
विहरणशील देव-देवी की चाह भरी चितवन का चैार॥

(१९)

जिसके कुञ्जों में वनवासी कामिनियों ने किया विहार,
तनिक ठहर कर वहाँ बरसने से द्रुतगति हो उसके पार।
विन्ध्यपाद की विषम शिलाओं पर बि खरी रेवा की धार,
देख पड़ेगी गज के तन पर खिंची खौर ज्यों रुचिराकार॥

(२०)

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥

(२१)

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥

(२२)

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान्वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः ।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥

(२३)

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥

(२०)

वृष्टि उगल कर तिक्त वनज-गज-मद से सुरभित उसका नीर
पीकर चलना जो जामुन के कुञ्जों से रुक कर अतिधीर।
तब घन! पवन नहीं हो सकता सारपूर्ण तुझसे प्रतिकूल,
रीतापन लघुता का कारण पूरापन गुरुता का मूल॥

(२१)

हरित-पीत अर्धस्फुट-केसर निरख नीप कुसुमों का रूप,
नीच कछारों में कलियाई नवल कन्दली-राशि अनूप।
और जङ्गलों में वर्षा से सोंधी लेकर फैली वास,
भृङ्ग कुरङ्ग मतङ्ग करेंगे पथ दिखलाकर बड़ा सुपास॥

(२२)

चोंचों से बूँदें लेने में चतुर चातकों को पाते,
पाँतों में उड़ रहीं बगलियाँ गिन गिनकर जो बतलाते।
सिद्ध लोग वे तब मानेंगे तेरे गर्जन का उपकार,
डरकर जब सहचरियाँ उनसे लिपट जायँगी बारंबार॥

(२३)

यद्यपि मित्र! प्रिया के कारण करना है सत्वर प्रस्थान,
तो भी ककुभ[१]-सुरभि शैलों पर रुकने का होता अनुमान।
सजलनयन केकी कूकों से स्वागत कर कर लें मनुहार,
जैसे हो तैसे तुरन्त तू चलदेना तज सोच-विचार॥

१. कुड़ा

(२०)

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शद्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥

(२१)

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥

(२२)

[illegible]ग्रहणचतु[illegible]णाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः ।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥

(२३)

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥

(२४)

जहाँ खिले केतक कुसुमों से धवलित उपवन के घेरे,
आम-पादपों को कौवों ने घेर घने डाले डेरे।
पकी पकी काली जामुन के वन से वह दशार्ण सुन्दर,
तेरे जाते जाते होगा कुछ ही दिन हंसों का घर ॥

(२५)

उस दशार्ण की विदिशा नामक विदित राजधानी के पास,
देख तरङ्गित वेत्रवती को होगा तेरा सफल विलास।
तुझ प्रेमालापी को करते जान मधुर अधरामृत-पान,
वह इठला कर लहरी-रूपी टेढ़ी भौंहें लेगी तान ॥

(२६)

खिले कदम्बों से पुलकित सा जो होगा तुझसे मिलकर,
उसी नीचनामक पर्वत पर दम लेने के लिए ठहर।
उसके शिलागृहों से निकला वारवधू-तन-परिमल-गन्ध,
बतलाता नागरिक जनों को यौवन की चढ़ती से अन्ध ॥

(२७)

पर्वतीय नदियों के तट पर फूले जूही के आराम,
उन्हें सींचते आगे बढ़ना थोड़ा सा करके विश्राम।
और मालिनों के मुखड़ों पर छायाकर करना [illegible]कार
जिनके कर्ण-कमल मुरझाते स्वेद पोंछते ब[illegible]

(२८)

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥

(२९)

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥

(३०)

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥

(३१)

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥

यद्यपि उत्तर चलते तुझको उज्जयिनी जाने में फेर,
उसके महलों का मन रखने में तथापि मत करना देर।
चल चपला से चकित छुटीले नागरियों के बाँके नैन,
यदि न उलझकर तुझे लुभावें समझ जन्म वञ्चित बेचैन॥

(२९)

पहन करधनी उन हंसों की लहराकर जो देते बोल,
इठला इठला कर जो चलती रुचिर भँवरनाभी को खोल।
पथ में ऐसी निर्विन्ध्या के रस का बस बन जाना धाम,
हावभाव ही करता प्रिय पर पहले प्रणय-वचन का काम॥

(३०)

सिन्धु विरह में सूख सिमटकर रखती लट सी पतली धार,
तट के पेड़ों के पतझड़ से पीला पड़ा पूर्ण आकार।
भाग्यवान हे मेघ! कर रही जो वह तेरा इतना प्यार,
जैसे अपनी कृशता तजदे करना वैसे ही उपचार॥

(३१)

पहुँच अवन्ती, जहाँ जानते ग्राम-वृद्ध उदयन का हाल,
तू उस उज्जयिनी को जाना जो रखती सम्पत्ति विशाल।
मानों स्वर्ग भोगकर उतरे धरती पर जो उसको त्याग,
अपने शेष पुण्य से उसका लेआये यह सुन्दर भाग॥

(३२)

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥

(३३)

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥

(३४)

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३४॥

(३५)

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥

(३२)

उन्मद हंसों के कलरव को बल देता जो भले प्रकार,
मोर खिले कमलों से मिलकर ले लेता जो सौरभ-सार।
विनती करने में प्रियतम सा चाटुकार वह शिप्रावात,
यहाँ रतिश्रम हर कर करता कामिनियों का सुखमय गात ॥

(३३)

जाली से निकले केशों के गन्धधूप से पाकर सार,
गृह मयूर का नृत्य मानकर भाई-चारे का उपहार।
कुसुम-सुरभि जिनमें अङ्कित हे रुचिर रमणियों का पदराग,
उसके उन भवनों की शोभा लखते मार्ग-खेद को त्याग ॥

(३४)

प्रमथ तुझे देखेंगे सादर निज स्वामी के कण्ठ समान,
त्रिभुवन-नायक महादेव के पुण्यधाम जाने की ठान।
कमल-धूलिधर, जल-विहार-कर कामिनियों का सौरभ-चोर,
गन्धवती का पवन वहाँ के उपवन को देता झकझोर ॥

(३५)

चाहे जलधर! अन्य समय भी पहुँचे महाकाल के धाम,
किन्तु ठहरना वहीं, न जब तक दिननायक लेलें विश्राम।
तू प्रदोष की पशुपति-पूजा में देना डंके का काम,
अपने मन्द मन्द गर्जन का फल पाकर रख लेना नाम ॥

(३६)

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितबलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥

(३७)

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥

(३८)

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥

(३९)

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥

(३६)

जिनकी कटि-किंकिणियाँ बजतीं पग पग पर सुस्वर के साथ,
रत्नकान्ति-मण्डित दण्डों के चामर ढुलते जिनके हाथ।
नर्त्तकियाँ वे नखरेखों पर पड़ी सुखद बूँदों से प्रीत,
भ्रमर-पाँतसी बाँकी चितवन तुझपर मोड़ेंगी, हे मीत!॥

(३७)

अभिनव जपाकुसुम की लाली धारण करना सायंकाल,
शिव के उच्च बाहु-तरु-वन पर अपना मण्डल देना डाल।
जिससे वे न नाच में लेना चाहें गज की गीली खाल,
और शान्त हो शिवा एकटक लखें भक्ति तेरी तत्काल॥

(३८)

वहाँ रात को नहीं सूझती घनी अँधेरी में जब राह,
तभी रमणियाँ जाती होंगी रमणों के घर भरी उछाह।
कनक-कसौटी की रेखा सी बिजुली से दिखलाना बाट,
डरी नारियों को न डराना, बरस या कि दे गर्जन-डाट॥

(३९)

ऐसी छत पर जहाँ कबूतर करते हों निधड़क आराम,
अतिविलास से थकी चञ्चला प्यारी को देना विश्राम।
शेषमार्ग पूरा कर देना रात बिता कर अरुण निहार,
कहीं देर करता क्या कोई मित्र-कार्य का लेकर भार?॥

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥

(४५)

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥

(४६)

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥

(४७)

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥

(४४)

वहाँ वास करते कुमार को बनकर फूलों का अम्भोद,
देवनदी के जल से सींची पुष्पवृष्टि से देना मोद ।
चन्द्रचूड़ ने इन्द्रसैन्य की रक्षा के निमित्त अभिराम,
पावक के मुख में रक्खा है दिनकर से बढ़कर वह धाम ॥

(४५)

जिसके चारु चँदोवेवाले गिरे पङ्ख गौरी चुन कर,
पद्मपत्र के साथ कान पर रखतीं पुत्रप्रेम गुन कर ।
शिव की चन्द्रकला से जिसके धुले धवल नयनों के कोर,
गिरि में गूँज गरजना जिस से नाचे वह कुमार का मोर ॥

(४६)

जब कुमार की पूजा करके कर लेगा चलने का ठाट,
वीन भीग जाने के भय से सिद्ध लोग छोड़ेंगे बाट ।
आगे बढ़कर फिर झुक जाना उस चर्म्मरत्न का रखने मान,
जो गोमेध-यज्ञ से निकली रन्तिदेव की कीर्ति महान ॥

(४७)

घनश्यामसा श्याम करेगा जब तू जल लेने का ठाट,
होगा विदित दूर से पतला तब सरिता का चौड़ा पाट ।
गगनचारियों की आँखों में उपजावेगा यह अनुहार,
जैसे नीलम लगा बीच में एकलड़ा धरती का हार ॥

(४८)

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥

(४९)

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥

(५०)

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥

(५१)

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शंभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥

(४८)

जिनकी श्वेत-कृष्ण छवि बरुनी उठने से ऊपर आलीन,
फिंके कुन्द पर लपके भौंरों की ली छटा जिन्होंने छीन।
दशपुर-वधुओं की वे आँखें जब कि रहीं हों तुझे निहार,
भ्रूविलास का रस लेते तब आगे चलना चम्बल-पार॥

(४९)

ब्रह्मावर्त्त देश को अपनी छाया से छाते छाते,
कुरुक्षेत्र जाना जिसके थल क्षत्रजाति-गति बतलाते।
जहाँ पार्थ ने शत्रु-मुखों पर किया निशित बाणों का पात,
जैसे तू अपनी झड़ियों से करता कमलों पर आघात॥

(५०)

प्रिया-लोचनों से प्रतिबिम्बित प्रिय मदिरा का कर अपमान,
बन्धु-प्रीति से समर-विमुख हो, किया हली ने जिसका पान।
सुभग ! जहाँ तू सरस्वती का पी लेगा वह पावन नीर,
शीघ्र शुद्ध होगा भीतर से केवल बाहर कृष्ण शरीर॥

(५१)

पहुँच वहाँ से जहाँ जाह्नवी हिमगिरि से कनखल के पास—
सगर-सुतों के लिए स्वर्ग की सीढ़ी सी उतरी सविलास।
गौरी की त्यौरी की करके फेन-हास्य से हँसी विशेष,
लहरीरूप करों से जिसने धरे शम्भु के शशियुत केश॥

(५२)

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययासौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेवाभिरामा ॥

(५३)

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥

(५४)

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥

(५५)

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥

दिग्गज के समान नभ में झुक अगले तन का कर विस्तार,
स्फटिक-तुल्य यदि जल ले लेने का कर लेगा मेघ! विचार।
पड़ी हुई धारा में तेरी छाया से गङ्गा तत्काल—
तो धारण कर लेगी यमुना-सङ्गम की सी छटा विशाल ॥

(५३)

जिस पर बैठे कस्तूरीमृग शिलाखण्ड सुरभित करते,
हिम से गौर उसी गङ्गा के जनक शैल पर पग धरते।
पथ का खेद दूर करने को किसी शिखर पर जम जाना,
शिव के शुभ्र वृषभ के सिर पर लगे पङ्क की छवि पाना ॥

(५४)

वायुवेग से देवदार की डालें यदि रगड़ा खावें,
सुरहगाय की पूँछ जलाती दावानल को उपजावें।
बरस मूसलाधार शैल को तो अवश्य ठंढा करना,
उत्तम की विभूति का फल है दुखी जनों का दुख हरना ॥

(५५)

तुझे लाँघ कर जी देने का शरभ अगर सामान करें,
राह छोड़कर चलने पर भी यदि तेरा अपमान करें।
तो ओले बरसा कर उनको मार भगाना, मैं कहता,
बिना काम का काम उठा कर कौन नहीं दुर्गति सहता ॥

(५६)

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥

(५७)

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किंनरीभिः ।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥

(५८)

प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥

(५९)

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥

(५६)

वहाँ शिला पर है, सिद्धों से पूजित, शिवचरणों की छाप,
उसकी परिक्रमा करना तू भक्तिभाव से झुककर आप।
उसके दर्शन से उड़ जाते श्रद्धावानों के अघमात्र,
देह त्यागते ही वे होते शिवगण की पदवी के पात्र ॥

(५७)

कीचक-वेणु वायु से पूरित होकर लेते मीठी तान,
किन्नरियाँ मिलकर गाती हैं सुन्दर त्रिपुर-विजय के गान।
गुहा-गर्भ में यदि गर्जनमय कर देगा मृदङ्ग का नाद,
तो अवश्य पशुपति पायेंगे पूरे नाचरङ्ग का स्वाद ॥

(५८)

वहाँ तराई के दृश्यों के पार मिलेगा हंसद्वार,
क्रौञ्च-शैल की जो घाटी है भृगुपति के यश का विस्तार।
बलिबन्धन में उद्यत वामन के श्यामल-रुचि-चरण-समान,
लम्बे तिरछे बन उत्तर को उसी मार्ग से कर प्रस्थान ॥

(५९)

ऊपर जा, दशमुख-भुज-भञ्जित जिसके तन में बनी दरार—
उस सुररमणी-दर्पण गिरिवर की कर पहुनाई स्वीकार।
वह कैलास तुङ्ग निज निर्मल शृङ्गों से नभमण्डल घेर,
शोभित होता ज्यों नटेश के सिमटे अट्टहास का ढेर ॥

(६०)

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥

(६१)

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी ।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥

(६२)

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्या-
त्क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥

(६३)

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥

(६०)

वह, गज के तत्काल तराशे दाँत समान शुक्ल कैलास,
जब देगा चिकने अञ्जन-सा असित तुझे निज तटपर वास।
तब होगा अनिमेष दृगों से दर्शनीय उसका आकार,
जैसे गौरवर्ण हलधर के कन्धे पर नीला प्रावार ॥

(६१)

यदि गौरी भुजङ्ग-कङ्कण से रहित शम्भु का धरकर हाथ,
अपने उस क्रीड़ापर्वतपर चलें टहलने उनके साथ।
तू निज जल को भीतर दृढ़ कर मणि-तट पर चढ़ने के हेतु,
आगे चलकर बनते जाना लगातार सीढ़ी का सेतु ॥

(६२)

वहाँ कड़ों की कड़ी कोर से तुझे रगड़ कर नीर निकाल,
सुर-सुन्दरियाँ बस कर देंगी तेरा फ़ौवारे का हाल।
यों आतप में सुख पाकर जो छोड़ें नहीं तुझे वे मीत।
तो तू भी उन कौतुकियों को घोर नाद कर करना भीत ॥

(६३)

करते हुए कनक-कमलाकर मानसरोवर का पय पान,
मुख-पट सा बनकर तू देना ऐरावत को मोद महान।
अंशुक-तुल्य कल्पपादप के पल्लव मारुत से झकझोर,
नानाविध क्रीड़ायें करके लेना गिरि की मौज बटोर ॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥

जिसकी गङ्गारूपी साड़ी सरक पड़ी प्रिय-गिरि की गोद,
क्या न देखते पहचानोगे उस अलका को मित्र पयोद !
वर्षा में जल-बिन्दु चुवाते मेघवृन्द महलों पर आप—
धारण करती जैसे रमणी मुक्तामण्डित केश-कलाप ॥

उत्तरमेघः

(१)

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥

(२)

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥

(३)

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥

उत्तर मेघ

(१)

चपला इधर, उधर नवलायें, इधर इन्द्र धनु, चित्र उधर,
इधर मधुर गर्जन, मृदङ्ग का नाद गान का मित्र उधर।
इधर विमल जल, उधर रत्नमय भूमि, तुङ्ग तो उभय विशाल,
अलका के प्रासाद करेंगे यों तेरी तुलना, तत्काल ॥

(२)

कर में लीला-कमल अलक में गुँधी ललित नव कुन्दकली,
लोघ-धूल से कामिनियों के गोरे मुख की प्रभा भली।
जूड़े में टटके कुरवक हैं कानों पर शिरीष के फूल,
और माँग में तेरे कारण खिला कदम्ब चारुता-मूल ॥

(३)

जिन पर तारागण की छाया करती है कुसुमों का काम—
फटिक रचे उन महल-थलों पर लेकर ललनायें अभिराम।
रसिक यक्ष होते तेरी सी ध्वनिवाले मृदङ्ग का नाद,
सुरतरु से प्रसूत रतिदायक रतिफल मधु का लेते स्वाद ॥

(४)

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥

(५)

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा-
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥

(६)

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥

(७)

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥

(४)

सुरसरिता-शीकर से शीतल पवन जिन्हें ठंढा करता,
मन्दारों का कुञ्ज तीरपर छाया से आतप हरता।
वहाँ खेल में वे कन्यायें—देवगणों को जिनकी चाह,
कनक-बालुका की मूठों से गुप्त-मणी की लेतीं थाह॥

(५)

नीवी की उसास से सरकी साड़ी कम्पित कर से खींच,
प्रियतम वहाँ डुबाते मुग्धा वधुओं को लज्जा के बीच।
वे चाहतीं रत्नमय दीपों की द्युति को करना निर्मूल,
मूढ़ मुट्ठियों में भर उन पर व्यर्थ फेंकतीं कुङ्कुमधूल॥

(६)

उसके सप्तभूम भवनों में ऊपर गये वायु के सङ्ग,
बूँदों से चित्रावलियों का चौपट करके सारा रङ्ग।
तेरे ऐसे बादल भय से धरकर धूमसदृश आकार,
तितर बितर हो निकल भागते झपट झरोखे के ही द्वार॥

(७)

चारु चँदोवे की जाली से चन्द्रकान्त जो लटक रहे,
तेरे हटने से शशिकिरणें पड़कर उनसे नीर बहे।
उसकी बूँदें दृढ़-आलिङ्गन-अलस अङ्गनाओं के अङ्ग,
टपक टपक कर शीतल करतीं होता सुरत-खेद का भङ्ग॥

(८)

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किंनरैर्यत्र सार्धम् ।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥

(९)

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥

(१०)

... देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥

(११)

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥

(८)

जो अपने रङ्गीन गले से धनपति का यश करते गान,
ऐसे किन्नरगण को लेकर बड़े बड़े कामी धनवान।
करते हुए रसीली बातें रच सुर-नर्तकियों का गोल,
बाहर के उपवन में जाकर लेते मौज वहाँ जी खोल॥

(९)

चलने की धुन में अलकों से टपक पड़े सुरतरु के फूल,
बाले पत्ते, कर्णफूल जो पतित हुए कानों को भूल।
मोती की लड़, उलझ उरोजों की टक्कर से टूटे हार,
वहाँ सबेरे सूचित करते कामिनियों का निशाविहार॥

(१०)

मदन जानकर वहाँ धनद के मित्र रुद्र को रहते आप,
तेरे उठने पर भी भयवश प्रायः नहीं उठाता चाप।
चतुर नारियों की वे बाँकी भौंहें, वह चितवन अतिवाम,
कामि-लक्ष्य पर नहीं चूकती कर देती हैं उसका काम॥

(११)

रङ्ग विरङ्गे वसन, कोंपलें, कुसुम, विभूषण विविध प्रकार,
नयनों में रँग लानेवाला मद्य मदन का परमाधार।
चरणकमल रञ्जन करने के योग्य महावर आदि अनेक,
सुन्दरियों के मंडन देता वहाँ कल्पपादप ही एक॥

(१२)

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥

(१३)

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥

(१४)

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥

(१५)

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥

(१२)

देख दूर से जिसका तोरण सुन्दर सुरपति-धनुष-समान,
उसे धनाधिप के भवनों से उत्तर मेरा घर तू जान।
उसके पास प्रिया का पाला पोष्य पुत्रसा करके प्यार,
करप्राप्य गुच्छों से लदकर अतिशय झुका बाल मन्दार॥

(१३)

अतिसुन्दर वैदूर्य-नालयुत रम्य कनककमलों की खान,
मरकतमणिमय सोपानों से शोभित वापी कलानिधान।
तुझे देखकर भी जो उसके जल में रह कर लेते स्वाद,
उन सुखिया हंसों को होगी नहीं निकट मानस की याद॥

(१४)

उसके तट पर रम्य नीलमणि-शृङ्ग-विराजित रचा पहाड़,
जिसके चारों ओर लग रही रुचिर कनककदली की बाड़।
तेरे छोरों पर चपला की चमक देखकर आती याद,
उसी प्रिया के प्रिय पर्वत की कातर मन होता सविषाद॥

(१५)

वहाँ कुरे के घेरेवाले वासन्ती-मण्डप के पास,
लाल अशोक चपल-पल्लवयुत तथा बकुल कमनीय सुवास।
पहला मेरे साथ चाहता तेरी आली का पद वाम,
और दूसरा दोहद के मिष मुख-मदिरा का स्वाद ललाम॥

(१६)

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥

(१७)

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥

(१८)

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥

(१९)

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥

(१६)

जिसके नीचे बना मनोहर मरकतमणि का मूल बड़ा,
वह सोने का अड्डा सिर पर फटिकशिला ले बीच खड़ा।
तेरा मित्र मयूर उसी पर सदा बैठता सायंकाल,
उसे नचाती प्रिया झनाझन कङ्कणधर कर से दे ताल।

(१७)

साधुशिरोमणि मेघ! हृदय में धारण कर ले ये पहचान,
शङ्ख पद्म के चित्र द्वार लख तू घर मेरा लेना जान।
निश्चय वह मेरे वियोग के कारण होगा विभा-विहीन,
दिनकर के अभाव में शोभा रख सकता क्या सरसिज दीन?

(१८)

उड़ चलने के लिए बनाकर करिशावक का सा आकार,
उसी नीलमणि-मण्डित मेरे केलिशैल पर आसन मार।
करके चपलारूप दृष्टि में तू जुगुनू-जमात सी जोत,
मित्र! बहाना घर के भीतर उसका अल्पद्युति सा सोत॥

(१९)

कृशकाया दाडिमसमदशना बिम्बाधरशुभ्रा श्यामा,
तनुमध्या भयचकित-मृगीलोचना गभीरनाभि रामा।
जो नितम्ब से मन्दगामिनी झुकी कुचों का पाकर भार,
हो विरंचि की नारी-रचना-कौशल का पहिला अवतार॥

(२०)

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥

(२१)

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥

(२२)

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥

(२३)

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

(२०)

उसे दूसरा जीवन मेरा समझ उसी चकवीसी मूक,
जो प्रियतम से बिछुड़ अकेली सहती दुसह विरह की हूक।
इन वियोग के वज्र दिनों में उत्कण्ठित बाला का हाल,
उस सरोजिनी कासा होगा जिस पर पड़ा घोर हिमजाल॥

(२१)

हाय! गई होंगी उसकी वे अँखियाँ रोते रोते फूल,
गरम उसासों के लगने से होगा अधरवर्ण प्रतिकूल।
छिपा हुआ बिखरी अलकों में कर पर रक्खा वह मुखचन्द,
होगा तेरे घेर-घार में पड़कर मलिन इन्दु सा मन्द॥

(२२)

या तो देख पड़ेगी तुझको वह पूजा में लगी हुई,
या वियोग से कृश मेरी छवि लिखने में ही पगी हुई।
या पिंजड़े की मधुरभाषिणी मैना से करती संवाद—
प्यारे की प्यारी रसिका! क्या तुझे नाथ की आती याद?

(२३)

या मुझ पर ही रचे गीत का ज्यों त्यों करने को आलाप,
मलिन वसनवाले उत्संग पर परिचित वीणा रखकर आप।
जैसे तैसे पोंछ-पोंछकर अश्रुपात से भीगे तार;
उसे भूलती स्वयं निकाली गई मीड़ जो बारंबार॥

(२४)

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥

(२५)

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥

(२६)

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

(२७)

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनमेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥

(२४)

या वियोग के दिन से लेकर नियत अवधि के अन्तिम मास,
चढ़े देहली पर फूलों से गिनती होगी धर धर पास।
मेरे मनोनीत संगम का या मन ही मन लेती मोद,
बहुधा रमण-विरह में होते कामिनियों के यही विनोद॥

(२५)

दिन में मेरा विरह कार्यवश उसे न देगा वैसा ताप,
किन्तु विनोद-रहित रजनी में होगा द्विगुण विलाप-कलाप।
निद्राहीन लीन धरती पर दीन सखी से कह सन्देश,
आधी रात बैठ खिड़की पर हर ले उस दुखिया के क्लेश॥

(२६)

विरह सेज पर पड़ी एक ही करवट चिन्ताओं में लीन,
बची हुई जैसे प्राची में कला इन्दु की एक मलीन।
पल समान मेरे संगम के सुख में जो बीतती तुरन्त,
उसी वज्र रजनी का करती किसी तरह रो रोकर अन्त॥

(२७)

पल्लवतुल्य अधर मुरझाती गरम उसासें जो लेती,
निरे स्नान से रूखी मुख पर लटकी लटें उड़ा देती।
मिलन स्वप्न में ही हा इससे करती निद्रा का अभिलाष,
किन्तु अश्रुधारा के मारे उसको वहाँ कहाँ अवकाश।

(२४)

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥

(२५)

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥

(२६)

आधिक्षामां विरहशयने संनिपण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

(२७)

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनमेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥

(२४)

या वियोग के दिन से लेकर नियत अवधि के अन्तिम मास,
चढ़े देहली पर फूलों से गिनती होगी घर घर पास।
मेरे मनोनीत संगम का या मन ही मन लेती मोद,
बहुधा रमण-विरह में होते कामिनियों के यही विनोद॥

(२५)

दिन में मेरा विरह कार्यवश उसे न देगा वैसा ताप,
किन्तु विनोद-रहित रजनी में होगा द्विगुण विलाप-कलाप।
निद्राहीन लीन धरती पर दीन सखी से कह सन्देश,
आधी रात बैठ खिड़की पर हर ले उस दुखिया के क्लेश॥

(२६)

विरह सेज पर पड़ी एक ही करवट चिन्ताओं में लीन,
बची हुई जैसे प्राची में कला इन्दु की एक मलीन।
पल समान मेरे संगम के सुख में जो बीतती तुरन्त,
उसी यत्र रजनी का करती किसी तरह रो रोकर अन्त॥

(२७)

पल्लवतुल्य अधर मुरझाती गरम उसासें जो लेती,
निरे स्नान से रूखी मुख पर लटकी लटें उड़ा देती।
मिलन स्वप्न में ही हा इससे करती निद्रा का अभिलाप,
किन्तु अश्रुधारा के मारे उसको वहाँ कहाँ अवकाश।

(२४)

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥

(२५)

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥

(२६)

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

(२७)

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनमेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥

(२४)

या वियोग के दिन से लेकर नियत अवधि के अन्तिम मास,
चढ़े देहली पर फूलों से गिनती होगी धर धर पास।
मेरे मनोनीत संगम का या मन ही मन लेती मोद,
बहुधा रमण-विरह में होते कामिनियों के यही विनोद॥

(२५)

दिन में मेरा विरह कार्यवश उसे न देगा वैसा ताप,
किन्तु विनोद-रहित रजनी में होगा द्विगुण विलाप-कलाप।
निद्राहीन लीन धरती पर दीन सखी से कह सन्देश,
आधी रात बैठ खिड़की पर हर ले उस दुखिया के क्लेश॥

(२६)

विरह सेज पर पड़ी एक ही करवट चिन्ताओं में लीन,
बची हुई जैसे प्राची में कला इन्दु की एक मलीन।
पल समान मेरे संगम के सुख में जो बीतती तुरन्त,
उसी बज्र रजनी का करती किसी तरह रो रोकर अन्त॥

(२७)

पल्लवतुल्य अधर मुरझाती गरम उसासें जो लेती,
निरे स्नान से रूखी मुख पर लटकी लटें उड़ा देती।
मिलन स्वप्न में ही हो इससे करती निद्रा का अभिलाष,
किन्तु अश्रुधारा के मारे उसको वहाँ कहाँ अवकाश।

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥

(२५)

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ॥

(२६)

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥

(२७)

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् ।
मत्संभोगः कथमुपनमेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशां

(२४)

या वियोग के दिन से लेकर नियत अवधि के अन्तिम मास,
चढ़े देहली पर फूलों से गिनती होगी धर धर पास ।
मेरे मनोनीत संगम का या मन ही मन लेती मोद,
बहुधा रमण-विरह में होते कामिनियों के यही विनोद ॥

(२५)

दिन में मेरा विरह कार्यवश उसे न देगा वैसा ताप,
किन्तु विनोद-रहित रजनी में होगा द्विगुण विलाप-कलाप ।
निद्राहीन लीन धरती पर दीन सखी से कह सन्देश,
आधी रात बैठ खिड़की पर हर ले उस दुखिया के क्लेश ॥

(२६)

विरह सेज पर पड़ी एक ही करवट चिन्ताओं में लीन,
बची हुई जैसे प्राची में कला इन्दु की एक मलीन ।
पल समान मेरे संगम के सुख में जो बीतती तुरन्त,
उसी वज्र रजनी का करती किसी तरह रो रोकर अन्त ॥

(२७)

पल्लवतुल्य अधर मुरझाती गरम उसासें जो लेती,
निरे स्नान से रूखी मुख पर लटकी लटें उड़ा देती ।
मिलन स्वप्न में ही हो इससे करती निद्रा का अभिलाष,
किन्तु अश्रुधारा के मारे उसको वहाँ कहाँ अवकाश ।

(२८)

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥

(२९)

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव ।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं नप्रबुद्धां नसुप्ताम् ॥

(३०)

सा संन्यस्ताभरणमबला पेलवं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम् ।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥

(३१)

जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
दित्थंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि ।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥

(२८)

मैंने बाँधा जिसे विरह के पहिले दिन माला को त्याग,
मैं ही स्वयं जिसे खोलूँगा जब जागेंगे मेरे भाग।
कड़ी गाल पर पड़ी खुरखुरी छूते दुखती वह लट एक,
विना कटे नहवाले कर से जो सरकाती बार अनेक॥

(२९)

सुधा-भरी शीतल किरणावलि जाली से आने पाई,
प्रथम प्रीति से अँखिया मिलने दौड़ी, किन्तु लौट आई।
अश्रुपूर्ण वरुनी से उसको ढकने में दुःखित होती,
दुर्दिन में थल की नलिनी सी रही न जाग न तो सोती॥

(३०)

अलङ्कार-विरहित बेचारी अबला होगी अधिक अधीर,
जैसे तैसे पड़ी सेज पर लेकर अपना कृशित शरीर।
देख उसे तेरे नयनों से जलद! झरेगा निश्चय नीर,
आर्द्र हृदय प्रायः भर आता दुख से देख पराई पीर॥

(३१)

तेरी सखी जानता हूँ जो मुझसे रखती प्रेम महान,
इसी लिए इस प्रथम विरह में मैं करता ऐसे अनुमान।
अपनी सुन्दरता के मद में नहीं बहकता मैं सच मान,
जो कुछ मैंने कहा मित्र! सब स्वयं देखकर लेगा ५

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥

(३३)

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।
संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥

(३४)

तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि-
त्सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥

(३५)

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥

(३६)

श्ररी सुहागिन ! मुझे समझ तू अपने पति का मित्रविशेष
तेरे पास हृदय में रखकर लाया हूँ उसका सन्देश ।
मेरा नाम मेघ है, मैं ही मधुर धीर गर्जन विस्तार—
विरहिनियों की लटें खुलाने पथिकों को लाता श्रागार ॥

(३७)

यों कहने पर वह सीता सी मारुतसुत सा तुझे निहार,
उत्कण्ठा से उछल पड़ेगी श्रौर करेगी अतिसत्कार ।
सावधान हो पुनः सुनेगी अपने प्रियतम का संवाद,
सौम्य ! नारियों को वह देता मिलने से कुछ ही कम स्वाद ।

(३८)

चिरञ्जीव ! कुछ मेरा कहना, कुछ अपना गुन के उपकार,
यों कहना—वह तेरा सहचर पड़ा रामगिरि पर लाचार ।
मरा नहीं है कुशल पूछता "कह विरहिन अपनी दिनरात
अब तब गये जनों का जीते रहना मुख्य चहेती बात ॥

(३९)

कृश से कृश जलते से जलता उत्सुक से उत्सुकता-लग्न,
आँसू बरसाते से आंसू की सरिता के बीच निमग्न ।
निजनिःश्वसितअङ्गसे मिलकरअतिनिःश्वसितप्रियाकेश्र
वैरी विधना से बिछुड़ाया मन में मान रहा है मङ्ग ॥

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥

(३७)

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैव ।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदूनः ॥

(३८)

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥

(३९)

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥

(३६)

अरी सुहागिन! मुझे समझ तू अपने पति का मित्रविशेष,
तेरे पास हृदय में रखकर लाया हूँ उसका सन्देश।
मेरा नाम मेघ है, मैं ही मधुर धीर गर्जन विस्तार—
विरहिनियों की लटें खुलाने पथिकों को लाता आगार॥

(३७)

यों कहने पर वह सीता सी मारुतसुत सा तुझे निहार,
उत्कण्ठा से उछल पड़ेगी और करेगी अतिसत्कार।
सावधान हो पुनः सुनेगी अपने प्रियतम का संवाद,
सौम्य! नारियों को वह देता मिलने से कुछ ही कम स्वाद॥

(३८)

चिरञ्जीव! कुछ मेरा कहना, कुछ अपना गुन के उपकार,
यों कहना—वह तेरा सहचर पड़ा रामगिरि पर लाचार।
मरा नहीं है कुशल पूछता "कह विरहिन अपनी दिनरात ?"
अब तब गये जनों का जीते रहना मुख्य चहेती बात॥

(३९)

कृश से कृश जलते से जलता उत्सुक से उत्सुकता-लग्न,
आँसू बरसाते से आँसू की सरिता के बीच निमग्न।
निजनिःश्वसितअङ्गसे मिलकर अतिनिःश्वसित प्रियाकेअङ्ग
वैरी विधना से बिछुड़ाया मन में मान रहा है सङ्ग॥

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥

(४१)

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
न्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥

(४२)

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

(४३)

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥

(४०)

सखियों के सम्मुख भी खुलकर जो कुछ कहना रहता था,
उसे कान में मुखस्पर्श का लोभी हो जो कहता था।
हाय! देखने सुनने को भी वह प्रिय दुर्लभ आज बना,
मेरे मुँह से कहलाता है समाचार दुख-दर्द-सना ॥

(४१)

तेरे अङ्ग प्रियङ्गुलता में मोरपङ्ख में केशकलाप,
हरिणी के चञ्चल नयनों में नयन चन्द्र में मुख की छाप।
देख रहा पतली लहरों में भ्रू-विलास मैं धरकर ध्यान,
किन्तु खेद! है नहीं किसी में तेरी समता कृपानिधान!

(४२)

शिलाभङ्ग पर गिरि रङ्गों से लिखकर चित्र मानकालीन,
अपने को चाहता बनाना ज्यों तेरे चरणों में लीन।
त्यों ही उमड़े अश्रुजाल से होतीं मेरी आँखें अन्ध,
दुष्ट दैव को यों भी रुचता नहीं परस्पर का सम्बन्ध ॥

(४३)

प्रिये! स्वप्न में किसी तरह जब मैं तुझको पा जाता हूँ,
शून्य गगन में आलिङ्गन को तब बाहें फैलाता हूँ।
वनदेवियाँ दशा यह मेरी देख देख दुख पाती हैं,
आँसू की मोती सी बूँदें पत्तों पर बरसाती हैं ॥

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥

(४५)

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥

(४६)

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

(४७)

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥

(४४)

देवदार की नई कोपलें चिटकाकर जो चली बयार,
हिमगिरि से दक्षिण को लेकर उसके रस का सौरभ-सार।
गुनवन्ती ! मैं उसे भेंटता अपने दोनों बाहु पसार,
क्या जाने तेरे अङ्गों से मिल आई हो यही विचार॥

(४५)

ऐसा क्यों न हो कि ये लम्बी रातें पल समान कट जायँ,
और दिवस के ताप पापमय सब प्रकार झटपट घट जायँ।
मृगनयनी ऐसी अनहोनी के पीछे जल रहा शरीर,
तेरी विरह-वेदनाओं ने मेरा मन कर दिया अधीर॥

(४६)

सोच समझ अपने को क्या मैं नहीं रहा हूँ स्वयं सँभाल,
इससे हे कल्याणि ! न तू भी जी छोटा कर हो बेहाल।
किसे सदा सुख ही मिलता है अथवा दुख रहता सब काल,
नीचे ऊपर दशा पलटती रहती ज्यों पहिये का हाल॥

(४७)

मिटा शाप ज्योंही हरि जागे तजकर शेषनाग की सेज,
आँख मूँद कर चौमासे की विरहवेदना और अँगेज।
पूर्ण करेंगे तब वियोग में गुने हुए मन के अभिलाष,
शरत्काल की खिली चाँदनी रातों में कर विविध विलास॥

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥

(४५)

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥

(४६)

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

(४७)

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥

(४४)

देवदार की नई कोपलें चिटकाकर जो चली बयार,
हिमगिरि से दक्षिण को लेकर उसके रस का सौरभ-सार।
गुनवन्ती! मैं उसे भेंटता अपने दोनों बाहु पसार,
क्या जाने तेरे अङ्गों से मिल आई हो यही विचार॥

(४५)

ऐसा क्यों न हो कि ये लम्बी रातें पल समान कट जायँ,
और दिवस के ताप पापमय सब प्रकार झटपट घट जायँ।
मृगनयनी ऐसी अनहोनी के पीछे जल रहा शरीर,
तेरी विरह-वेदनाओं ने मेरा मन कर दिया अधीर॥

(४६)

सोच समझ अपने को क्या मैं नहीं रहा हूँ स्वयं सँभाल,
इससे हे कल्याणि! न तू भी जी छोटा कर हो बेहाल।
किसे सदा सुख ही मिलता है अथवा दुख रहता सब काल,
नीचे ऊपर दशा पलटती रहती ज्यों पहिये का हाल॥

(४७)

मिटा शाप ज्योंही हरि जागे तजकर शेषनाग की सेज,
आँख मूँद कर चौमासे की विरहवेदना और अँगेज।
पूर्ण करेंगे तब वियोग में गुने हुए मन के अभिलाष,
शरत्काल की खिली चाँदनी रातों में कर विविध विलास॥

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥

(४९)

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ह्रासिनस्ते त्वभोगा
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥

(५०)

कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥

(५१)

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।
इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥

(४८)

अभिज्ञान सुन—एक बार तू सोती थी गलबाहें डाल,
अकस्मात ही बिलख बिलखकर रोती जाग पड़ी तत्काल।
जब मैंने बहुतेरा पूछा तब बोली कर अन्तर्हास,
छली! स्वप्न में देखा—तेरा किसी सौत को रुचा विलास।

(४९)

सुनी पते की बात, सुनयने, अब तो मुझको जीता जान,
लोगों के कहने में आकर मन में कुछ शङ्का मत मान।
स्नेह विरह में कुछ घट जाता यों विचार करना भी भूल,
वह तो होता लिये बिना रस प्रियपर बढ़े प्रेम का मूल॥

(५०)

आशा है कि सौम्य! तूने यह बन्धुकृत्य करना ठाना,
कुछ कह देने से गंभीरता घट जाती है यह जाना।
माँगे जाने पर चातक को तू रह मौन पिलाता नीर,
याचक की अभिलाषपूर्त्ति ही उत्तर सभी समझते धीर॥

(५१)

या जलधर! मित्रता मानकर या दुखिया पर दया विचार,
इस मेरे अनुचित याचन को पूरा करके भार उतार।
वर्षा की शोभा से शोभित कर मनमाने सदा विहार,
क्षणभर भी चपला से तेरा विरह न हो यों किसी प्रकार॥